तलाक़ और जहेज़

हमारे समाज के दो नासूर

मुफ़क्किरे इस्लाम डॉ0 मौलाना सै0 कल्बे सादिक़ साहब क़िब्ला

हमारे समाज में दो सवाल ऐसे हैं, जिसमें से एक सुन्नी भाइयों के लिए और दूसरा सुन्नी और शिया दोनों के लिए रिसता हुआ नासूर बन गये हैं। अगर मुझे अधिकार हो तो कहना चाहुंगा कि यह दूसरा जहेज़ वाला सवाल हिन्दू भाइयों में और ज़्यादा भयानक बन गया है अगर इन नासूरों की तुरन्त रोकथाम न हुई तो आगे इनके हद से ज़्यादा ख़तरनाक, (घातक) नतीजे निकलेंगे।

पहला सवाल है तलाक़ का, इस सवाल ने हमारे सुन्नी भाइयों को हद से ज़्यादा परेशान कर रखा है। सवाल की पेचीदगी और जटिलता का अनुमान पूरे तौर पर तब तक नहीं लग सकता जब तक आपको यह ध्यान न दिला दिया जाय कि इस्लामी धर्म विधि (फ़िक़्ह) के ऐतबार से तलाक़ की दो क़िस्में होती है, तलाक़ ''रजयी'' और तलाक़ ''बायिन''।

तलाक़े ''रजयी'' में शोहर को अधिकार होता है कि तलाक़ देने के बाद वो ''इद्दत'' की मीआद के अन्दर जो कम ज़्यादा तीन मीने होती है, चाहे तो अपनी बीवी यानी पत्नी से मेल कर सकता है। ''इद्दत'' की मीआद बीत जाय तो भी उसे दुबारा पत्नी बना सकता है, लेकिन फिर से निकाह के बाद।

तलाक़े बायिन में औरत पति पर हमेशा हमेशा (सदैव) के लिए हराम (वर्जित) हो जाती है, और उससे दुबारा सूत्र जोड़ने के लिए अनिवार्य है कि तलाक़ बायिन देने के बाद ''इद्दत'' की मीआद गुज़र जाए तो फिर उससे कोई और आदमी बाक़ायदा विधिवत ब्याह करे और फिर तलाक़ दे और फिर औरत ''इद्दत'' गुज़ारे, और फिर यह ''इद्दत'' काल बिताने के बाद पहला मर्द उससे दुबारा निकाह कर सकता है। और अगर कोई दूसरा उसे धर्म पत्नी बनाने पर तैयार ही न हो या पत्नी बनाकर फिर छोड़ने पर राज़ी न हो तो इस्लामी धर्म विधि में ऐसा उपाय नहीं कि यह औरत पहले मर्द के साथ पति पत्नि का सूत्र बाध सके या रिश्ता जोड़ सके।

कठिनाई यह है कि इस्लामी धर्म विधि की सुन्नी व्याख्या के हिसाब से अगर कोई व्यक्ति किसी भी ज़बान में तीन बार कह दे कि तलाक़ दी! तलाक़ दी! तलाक़ दी! तो यह तलाक़ ''बायिन'' हो जाती है। तलाक़ ''बायिन'' की इस आसानी से इन साहिबान के लिए बहुत सी कठिनाईयां पैदा हो गयी हैं, जिन्होंने सुन्नी समाज को हिलाकर रख दिया है। आए दिन ये क़िस्से सामने आते रहते हैं कि इन्सान गुस्से में, क्रोधा और उत्तेजना में तलाक़, तलाक़, तलाक़ कह देता है और जब तलाक़ ''बायिन'' वाक़े (घटित) हो जाती है तो पछतावा होता है और फिर फ़र्याद (आर्त्तनाद) करता हुआ उलमा धर्माचार्यों और मौलवियों के पास दौड़ता है ''कि कोई सूरत निकालिए, कोई युक्ति कीजिए, मेरा घर बरबाद न हो जाए'' धर्म गुरू और मौलवी साहिबान बेचारे क्या करें। कोई सूरत, कोई उपाय हो तब तो निकालें। इस मुबय्यना (उल्लिेखित) हल के अलावा कोई सूरत ही नहीं तो निकालें क्या। वो यह तो कर सकते हैं और कर भी रहे हैं कि लोगों को समझाएं कि ''भइया!'' गुस्से में बावले होकर ऐसी तलाक़े न दिया करो। लेकिन गुस्से में आदमी को नसीहत और सीख याद ही कब रहती है, जो यह नसीहतें और उपदेश कारगर हो सकें।

दरअस्ल, वास्तव में सुन्नी धर्माचार्यों को इस मसले यानी प्रकरण में ''इज्तिहाद'' करना चाहिए। अर्थात दरपेश और विद्यमान हालत को सामने रखते हुए इस्लामी 'फिक़्ह' के माख़ज़ों यानी धर्म विधि के उद्गमों के पुनरावलोकन से नया '''फ़तवा' और नई व्यवस्था देना चाहिए, बल्कि मैं तो यह दरख़ास्त

करूंगा और मेरा अनुरोध यह होगा कि वुस्अत–ए–नज़र (व्यापक दृष्टि) से इस मामले में काम लेके फ़िक़े अहले–ए–बैत (अहलेबैत के निर्देशों पर आधारित धर्मशास्त्र) की पैरवी करें, उसका अनुसरण करें। अल–अज़हर यूनिवर्सिटी क़ाहिरा के साबिक़ यानी पूर्व रेक्टर शैख़ अहमद शलतूत यह फ़तवा (व्यवस्था) दे ही चुके हैं कि जाफ़री 'फ़िक़्ह' (शीआ धर्म विधि) पर चलने वाले वैसे ही मुक्ति (नजात) पाएंगे जैसे हनफ़ी, मालिकी, शाफ़िई और हम्बली ''फ़िक़्ह'' (धर्म विधि) पर चलने वाले।

हमारे समुदाय फ़िरके में यानी जाफ़री धर्म विधि में तीन बार नहीं तीन लाख बार तलाक़ तलाक़ कहता रहे और तलाक़ हरगिज़ (कदापि) न होगी। हमारे मसलक हमारे विश्वास के हिसाब से निकाह करना जितना सहज है, तलाक़ देना उतना ही कठिन। तलाक़ ''बायिन'' की बात तो अलग रही तलाक़ ''रजयी'' भी बहरहाल उस वक़्त तक नहीं हो सकती जब तक तलाक़ का मख्सूस ''सीग़ा'' अर्थात निश्चित वाक्य मुंह से कह न दिया जाए। दो आदिल गवाह मौजूद न हों, औरत पाकी (स्वक्षता) की हालत में न हो और शौहर से दूरी की एक मोतअइयन मुद्दत नियत साल बीत न चुका हो। जाफ़री धर्मशास्त्र में जब तलाक़ ''रजई'' में यह दुश्वारियां और रूकावटें हैं तो तलाक़ ''बायिन'' में कितनी दुश्वारी होगी, इसका अन्दाज़ा किया जा सकता है। तलाक़ के मसायल अर्थात सम्बन्धित व्यवस्थाओं की चर्चा का यहां मौक़ नहीं शियों के यहां तलाक़ ने वबा, महामारी का रूप नहीं लिया है, और न इसके बाद वो पेचीदगियां, उलझावे पैदा होते हैं, जिसने हमारे सुन्नी भाइयों की नींद उड़ा रखी है। सुन्नी व्याख्यानुसार इस्लामी ''फिक़्ह'' में इसे यूं भी कह सकते हैं कि सुन्नी ''फ़िक्ह'' में जो दूसरी कमज़ोरी पायी जाती है वो यह है कि एक तरफ़ मर्द को यह छूट है कि मर्द ''बायिन'' तलाक़ तक दे दे, दूसरी तरफ़ औरत किसी दशा किसी हाल में, यह अधिकार यह हक़ अपने हाथों में नहीं रख सकती, लेकिन शिया धर्मशास्त्र में यानी शिया व्याख्यानुरूप इस्लामी ''फिक़्ह'' में ऐसी गुन्जाइश मौजूद है कि औरत अगर चाहे तो निकाह के वक्त ही तलाक़ का हक़ और अधिकार ले सकती है और अगर तलाक़ का हक़ प्राप्त न कर सके और हाकिम–ए–शर्अ यानी धार्मिक प्रशासक या उसके प्रतिनिधि, नुमाइन्दे के सामने यह बात साबित हो जाए कि पति न हुक़ूके जौज़ीयत अर्थात पतित्व का उत्तर दायित्व निभा रहा है न तलाक़ देके पिण्ड छेड़ रहा है तो हाकिम–ए–शर्अ या उसके नुमाइन्दे प्रतिनिधि को यह हक़ हासिल है, यह अधिकार प्राप्त है कि वो पति की मर्ज़ी और इच्छा के बिल्कुल विरूद्ध (सर्वथा विपरीत) तलाक़ का सीग़ा जारी कर दे, नियत वाक्य उच्चारित करके औरत को उसके जुलमो–सितम (अत्याचार और यातना) से आज़ाद कर दे। तलाक़ के बारे में ''फ़िक़्ह'' जाफ़री की यह दोनों शिक़ें (दोनों पक्ष) मानस के जेहन को इतना अपील करती है, इतना लुभाती है कि हम बजा तौर पर यह उम्मीद करते हैं कि अब सुन्नी भाई ''शीया फिक़्ह'' की इन दोनों शिक़ों (पक्षों) को कुबूल कर लेंगे, ग्रहण कर लेंगे। हम बारगाह–ए–इलाही में दस्तबदोआ (ईश्वर से याचनारत) हैं कि वो इस्लाम के इस समुदाय को इस समाजी मुश्किल, इस सामाजिक समस्या से किसी सूरत जल्द से जल्द नजात दे, (शीघ्र अति शीघ्र छुटकारा प्रदान करे)।

बहर हाल इस बिपता में तो सिर्फ सुन्नी भाई फंसे हैं, लेकिन जिस सवाल ने पूरे हिन्दुस्तानी समाज को मुसीबत में जकड़ रखा है, मुसलमानों के दोनों समुदायों को विशेष रूप से वो है लड़की के लिए ''जहेज़'' का सवाल। खुली बात है कि यह मुसीबत किसी ''फिक़्ह'' में खुदा न ख़ास्ता किसी ख़राबी या दोष की वजह से नहीं बल्कि धर्म सिद्धान्तों (मज़हबी उसूलों) से दूर हो जाने के कारण पैदा हुई।

6 अप्रैल 1985 को कलकत्ता में ''मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड'' की बैठक हुई। इस बैठक में इन सतरों (पक्तियों) का लिखने वाला भी हाज़िर था। जहेज़ की लानत (अभिशाप) पर ग़ौर हो रहा था विचार हो रहा था, तो एक सुन्नी आलिम–ए–दीन (सुन्नी धर्माचार्य) ने बंगाल की किसी जगह का यह वाक़िया बताया कि ''एक ग़रीब बाप के सामने अपनी बेटी की निस्बत सगाई के साथ ही मुतालब–ए–जहेज़ की लम्बी फ़ेहरिस्त (जहेज़ में मांगी गई वस्तुओं की लम्बी सूची) आयी और वो ग़रीब बाप किसी ढंग से ये जहेज़ इकट्ठा करने की अपने आप में अहलियत या क्षमता न पा सका, तो उसने अपने हाथों अपनी बेटी को ज़ब्ह करके खुन आलूदा (रक्तरंजित) छुरी समेत मक़ामी

यानी स्थानीय थाने में जाकर हालत की रिपोर्ट कर दी, प्रथम सूचना दे दी।''

यह तो वो वाक़िया है जहां बेटी की जान गयी। लेकिन हिन्दोस्तान में न जाने कितने मां बाप हैं, जो इस मुसीबत का शिकार होकर अपनी तनदुरूस्ती को बरबाद कर रहे हैं, और अक्सर ज़ेहनी घुटन और अमराज़–ए–क़ल्ब या बहुधा मानसिक क्लेष और हृदय रोग का शिकार हो के मौत के मंह का निवाला बन रहे हैं।,

इस्लाम शायद किसी हद तक कुफ्र को (अनीश्वरवाद को) मोहलत दे दे, जहां कुर्फ हो मगर ज़ुल्म न हो, अनीश्वरवाद हो मगर अत्याचार न हो लेकिन इस्लामी तारीख़ इस्लाम का इतिहास यह है कि इस्लाम के रहनुमाओं ने ख़ल्क़–ए–खुदा पर (ईश्वरीय सृष्टि पर) ज़ुल्म को एक मिनट के लिए बर्दाश्त नहीं किया, चाहे यह ज़ुल्म करने वाला मुसलमान ही क्यों न हो। मुझे यक़ीन है निश्चित रूप से विश्वास है कि हुज़ूर–ए–करीम स0 हमारे पैग़म्बर या उनके अहलेबैत (परिजनों) में से अगर कोई ज़ाहिर बज़ाहिर (खुलेआम) मौजूद होते, और खुदा न ख़ास्ता इस लानत (अभिशाप) को समाज से मिटाने में उनकी नसीहत और उपदेश कारगर न होते, तो वो ऐसे अत्याचारियों के साथ यक़ीनन (निश्चित ही) लोहा ले लेते।

इस्लाम में जहेज़ फ़राहम करना उसको जुटाना होने वाले पति का फ़रीज़ा और कर्तव्य है, लड़की या उसके मां बाप का नहीं। लड़की वालों से जहेज़ मांगना शरीअत–ए–इस्लामी (इस्लामी धर्म शास्त्र) के परख़चे उड़ाना है।

मैं मुल्क के सभी धर्माचार्यों, काज़ी साहबान और निकाह पढ़ने वाले साहबान से दरख़ास्त करूंगा कि उस वक़्त तक कहीं निकाह पढ़ने का वादा न करें जब तक यह इत्मीनान और सुनिश्चित न हो जाय कि लड़के वालों की तरफ़ से लड़की वालों से जहेज़ का मुतालबा नहीं किया गया है (मांग नहीं रखी गयी है) उसी के साथ मैं लड़की वालों से भी दरख़ास्त करूंगा (प्रार्थना करूंगा) कि अगर वो कोई चीज़ अपनी लड़की को अज़ खुद (अपने आप, तोहफे (उपहार) में देना चाहें तो उसे चुपके से दे दें, शादी की महफ़िल में उसकी नुमाइश और दिखावा न किया करें। यह नुमाइश इस कठोर मसले का उलझावा और बढ़ा देती है।



(पेज नं0 10 का बक़िया..........)

का अपनाना कम से कम पहली सूरत के बराबर या इससे अफ़ज़ल है या बिल्कुल शरीयत के क़ानून के मुताबिक़ है। जिस्मानी इबादत से बेशक समाजी इबादत याने खुदा की मख़लूक़ (पैदा किये) को फ़ायदा पहुँचाने का सवाब ज़्यादा है और इस वजह से रवायत में कही गई बात बिल्कुल शरीयत के मुताबिक़ है।

चौथी रवायत

इसमें रोज़े के इफ़्तार की फ़ज़ीलत बयान करते हुए ये है कि तुम्हारा मोमिन भाई के रोज़े का खुलवाना और इसके दिल को खुश करना खुद तुम्हारे रोज़े से अफ़ज़ल है।''

इस रवायत से और शरीयत के दूसरे आम क़ानूनी की बुनियाद पर ये नतीजा निकलता है कि रोज़ेदार को इफ़्तार कराने का ये सवाब इस सूरत में है कि जब वह मोमिन इसको पसन्द करता हो और इससे इस के दिल को खुशी मिलती हो, लेकिन अगर इससे उसका दिल दुखता है और चाहे न चाहे ज़िद करके और बार–बार कह करके उसे रोज़ा इफ़्तार करने पर मजबूर किया गया है तो इसमें सवाब नहीं होगा। कुछ लोग यूँही रोज़ा खोलने के लिए बार–बार कहते हैं और रोज़ा न खोलने पर बिगड़ जाते हैं। इनका यह तरीक़ा सही नहीं है।

पाँचवी रवायत

इसमें इफ़्तार की फज़ीलत में यह शर्त (बन्धन) है कि " अपने घर पर बुला कर इफ़्तार कराये। अब अगर इस उसूल पर काम किया जाये तो अगर एक जगह बस आम बात हो और दूसरी जगह किसी चीज़ की क़ैद (बन्धन) लगाई गई हो तो आम बात को भी समझा जाए। तो इसका नतीजा ये है कि अफ़तार की फ़ज़ीलत इस बात पर निर्भर हो कि जब अपने घर पर बुलाकर अफ़तार कराया जाये, लेकिन चूंकि मुस्तहब बातों में उलमा ने इस उसूल को लागू नहीं किया है और इनका नज़रिया इस बारे में सही है। बल्कि यहाँ आम बात और लगी बन्धी अलग–अलग फ़ज़ीलत के मर्तबे के फ़र्क़ पर रखे जाते हैं। तो इसका नतीजा ये होता है कि ज़्यादा सवाब इसी में है कि अपने घर पर बुला कर इफ़्तार कराया जाए और इससे कम सवाब इसमें है कि किसी को आप कुछ अफ़तारी के तौर पर दे दिजीये कि अपने घर पर या जहाँ चाहे इफ़्तार कर लें। **(जारी.....)**

